
प्रवचन नं. २४२, कलश-११२, दिनाङ्क ०१-०६-१९७९, शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ६

समयसार, कलश ११२। अब, पुण्य-पाप अधिकार को पूर्ण करते हुए
आचार्यदेव ज्ञान की महिमा करते हैं:- अन्तिम (कलश)।

भेदोन्मादं भ्रम-रस-भरान्नाटयत्पीत-मोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

जिसने मोहरूपी मदिरा के पीने से,.. ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने मिथ्यात्व की शराब पी है 'भ्रम-रस-भरात्' उसकी भ्रमणा के रस से-भार से-बोझ से। मिथ्याश्रद्धा 'पीतमोहं' महामिथ्यात्व ऐसा मोह जिसने पीया है अर्थात् जिसके अनुभव में मिथ्यात्व है। आहाहा! वह जीव भ्रमरस के भार से... भ्रमणा के कारण 'भेदोन्मादं नाटयत्' इन कर्म में भेद करते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के रस (से) अतिशय भार से हुए 'भेदोन्मादं' पुण्य और पाप दो में भेद करते हैं। पुण्य है, वह ठीक; पाप, वह ठीक नहीं - ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व के जोर के कारण, कर्म का एक ही प्रकार है, उसमें दो भेद करता है। आहाहा! 'भेदोन्मादं नाटयत्' कर्म के भेद को - उन्माद को-पागलपन को। आहाहा! यह शुभभाव व्रत, तप, भक्ति ठीक है अथवा इससे धीरे-धीरे आगे जाया जा सकेगा, ऐसा अज्ञानी... आहाहा! भेदरूपी पागलपन के कारण। यह भेद पागलपन-पागल मिथ्यात्व है, इसलिए भेद करता है। आहाहा!

पुण्य और पाप दोनों भाव एक ही कर्म ही है। उसमें अज्ञानी पागलपन करके भेद करता है। कितने विशेषण दिये! मोह पीया है, मोह के भार से विशेषरूप से अतिशयरूप से मिथ्यात्व का जोर स्फुरित हुआ है। आहाहा! वे जीव, कर्म एक ही प्रकार के, पुण्य और पाप दोनों एक ही प्रकार हैं, (तथापि) अज्ञानी उनमें भेद करता है। आहाहा! ऐसा तो स्पष्टीकरण है, तो भी फिर सब डालते हैं। अन्दर डाले शुभभाव यह व्रत, तप, प्रतिमा में से भी निश्चय (में) जाया जाता है। कहो!

यहाँ कहते हैं ऐसे समस्त कर्म को.. अब टालने की बात है। यह बात तो पागलपन -उन्माद होकर कर्म—पुण्य शुभ और अशुभभाव दोनों एक ही कर्म है, उसे पागलपन से भेद करता है। आहाहा! पागल होकर मिथ्यात्व के भ्रम में पुण्य, व्रत, नियम, तप ठीक है और पापपरिणाम ठीक नहीं, ऐसा अज्ञानी मिथ्यात्व का पीया हुआ, अनुभवी—मिथ्यात्व का अनुभवी... आहाहा! भेद के उन्माद (में) पागलपने नचाता है। कठिन बात है। ऐसा तो स्पष्ट है।

मुमुक्षु : आचार्य (उसे) पागल तो कहते हैं, दोनों में भेद करे उसे (पागल कहते हैं)।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही है। भेद को उन्माद कहा न! 'भेदोन्माद' भेद करता है, वही उन्माद, पागलपन है। आहाहा! अब अभी तो सब गड़बड़ यह चलती है, शुभभाव होवे, ब्रत होवे, तप होवे, भक्ति (होवे)। अर र! ऐसी बात, प्रभु! आहाहा!

शुद्ध चैतन्य भगवान, अतीन्द्रिय अमृत का चैतन्य रसकन्द विराजता है, प्रभु! उसमें हीनता, खोट, विघ्न और आवरण है ही नहीं। ऐसा सत्त्व भगवान आत्मा का अनादर करके मिथ्यात्व की मदिरा पीये हुए। मिथ्यात्व की मदिरा पी है, ऐसा कहा। वह शराब नहीं। भेद का उन्माद—दो को भिन्न करता है। उन्माद और पागलपन के कारण (भेद करता है)। आहाहा! ऐसा कठिन लगता है। अभी सर्वत्र यह चलता है। साधुपने में प्रतिमाधारी (ऐसा कहे कि) प्रतिमा लो और यह लो। परन्तु अभी मूल में ठिकाना नहीं, (वहाँ) प्रतिमा का तो विकल्प है। वह अच्छा कहाँ से आया? आहाहा!

शुभ और अशुभभाव दोनों एक ही हैं। शुभाशुभकर्म आठों (ले लेना), तो भी उनके भेदरूपी उन्माद (पागलपने) को जो नचाता है.. आहाहा! मिथ्यात्व परिणमाता है। आहाहा! भगवान शुद्ध चैतन्यस्वरूप अमृत चैतन्य रत्नाकर का समुद्र, उससे विपरीत पुण्य और पाप में भेद करके गहलता खड़ी करता है। आहाहा! ऐसे कर्म को, ऐसे समस्त कर्म को.. 'बलेन' अपने बल द्वारा.. अब सुलटा पड़ा। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध है, ऐसे अन्तर के बल द्वारा पुण्य और पाप दोनों को एक मानकर छोड़ देता है। आहाहा! अपने बल द्वारा.. वापस, भाषा ऐसी है। आत्मा के बल—पुरुषार्थ द्वारा। वह पुरुषार्थ कोई राग की मन्दता हुई, इसलिए यह बल उन्हें नाश करने का प्रगट हुआ, (ऐसा नहीं है)। जिसे नाश करना है, उससे बल कैसे प्रगट हो? आहाहा! उसे तो भिन्न करना है, उसका नाश करना है। वह उसके बल में मदद कैसे करे? इसलिए शब्द प्रयोग किया है—अपने बल द्वारा.. ऐसा कहते हैं। आत्मा के बल द्वारा।

शुद्ध भगवान परमात्मा अमृतस्वरूप, अमृत का महासमुद्र, स्वयंभूरमण! आहाहा! अनन्त-अनन्त गुण की पवित्रता से विराजमान प्रभु के बल द्वारा—आत्मा की ओर के बल

द्वारा धर्मी जीव.. आहाहा! 'मूलोन्मूलं कृत्वा' मूल से उन्मूलनं (अर्थात्) उसका मूल उखाड़ डालता है। आहाहा! मिथ्यात्व का एक अंश न रहे, इस प्रकार से उखाड़ डालता है, ऐसा कहते हैं।

आहाहा! नटुभाई! तुम्हारे पालीताणा कुछ चलता है या नहीं? आहाहा! वे नानुभाई यहाँ आये है न? पालीताणा नहीं? यहाँ बोर्डिंग में वे कहते थे कि ऐसा हमारे यहाँ पालीताणा में तो चलता नहीं। वहाँ तो पूरे दिन होली सुलगती है। यह चढ़े और उतरे यह किया और वह किया, अमुक किया, डोली में बैठकर गये और आये। आहाहा! माला गिनकर चढ़े और माला गिनकर उतरे। देखा है न! आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा जो भेद करता है कि यह यात्रा का भाव अच्छा और घर में बैठे विषय-कषाय का भाव (होवे वह) खराब, (वह मिथ्यादृष्टि है)। आहाहा! दुकान का, व्यापार का भाव खराब और भक्ति तथा यात्रा का भाव अच्छा, ऐसा मिथ्यादृष्टि के जोर से भेद को गहलता से भिन्न करता है - ऐसा कहते हैं। उसे **समस्त कर्म को..** समस्त कर्म अर्थात् शुभ हो या अशुभ हो, ऐसा। पुण्य हो या पाप हो, ऐसा। दोनों को, समस्त कर्म का अर्थ यह है। शुभ हो या अशुभ हो, दोनों को **अपने बल द्वारा..** भगवान आत्मा, शुद्ध स्वभाव के आश्रय से, बल द्वारा, उसके अवलम्बन से.. आहाहा! 'मूलोन्मूलं कृत्वा' आहाहा! शुभ और अशुभ को मूल में से उखाड़ डालता है। आहाहा! जैसे गधा घास चरता है, वह मूल में से निकालता है। इसी प्रकार यह ज्ञानी मूल में से (मिथ्यात्व को उखाड़ डालते हैं)। आहाहा! वह (घास को मूल से उखाड़नेवाला) गधा है और यह ज्ञानी है। कठिन काम।

और कहेंगे कि पूरे दिन काम करना और फिर कहे.. बापू! कौन करे? भाई! भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु, आनन्द का बड़ा बादशाह! आहाहा! अनन्त चैतन्य रत्नाकर बादशाह का जहाँ पुरुषार्थ में जोर आया, उसके बल द्वारा। भेद को-उन्माद को अज्ञानी नचाता था, उसको मूल में से उखाड़ डालता है। आंशिक भी राग का अंश रहता है, (ऐसा नहीं)। जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बँधता है, वह भाव ठीक है, (ऐसा नहीं) उस भाव को भी यहाँ मूल में से उखाड़ डालता है। आहाहा! ऐसी बात है। मूल में से उखाड़ डालकर...

तीन शब्द हैं न 'मूलोन्मूलं कृत्वा' मूल में से उन्मूलनं-उन्मूलनं-उखाड़ डालकर, जड़ तोड़ डालकर अर्थात् उखाड़ डालकर। आहाहा!

'ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जृम्भे' चैतन्यमूर्ति ज्ञातादृष्टा। ज्ञानज्योतिः.. 'भरेण' अर्थात् अत्यन्त.. 'प्रोज्जृम्भे' सामर्थ्ययुक्त.. आहाहा! अपनी अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त.. परिणति में, हों! आहाहा! ज्ञानज्योति चैतन्यमूर्ति की दृष्टि होने पर शुद्ध पूर्ण परमात्मस्वरूप का आश्रय होने से ज्ञानज्योति पर्याय में प्रगट होती है, परिणमती है। वह (मोह को) समूल उखाड़कर अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति.. अत्यन्त सामर्थ्यसहित (अर्थात्) उसे अब कोई विघ्न कर सके या (उस) पर्याय को कोई वापस गिरा दे, ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! पंचम काल के साधु सन्त ऐसी बात करते हैं। परमात्मा के विरह में रहे। आहाहा!

मुमुक्षु : परमात्मा का विरह भुला दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान! उन परमात्मा को मिले तो वह तो राग है। आहाहा! इस परमात्मा को मिलने से वीतरागता होती है। आहाहा! तीन लोक के नाथ वीतराग तीर्थंकर की हाजिरी समवसरण में (होवे) उसमें क्या? उस ओर का सुनने का या भक्ति का झुकाव है, वह तो शुभराग है।

यहाँ तो आत्मबल द्वारा, शुभ या अशुभ किसी भी अंश को मूल में से उखाड़ डालकर। आहाहा! क्या वाणी! फिर से उत्पन्न न हो, इस प्रकार मूल में से उखाड़कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति.. 'भरेण' 'भरेण' (शब्द) है न? भार.. भार, बोझा। 'प्रोज्जृम्भे' प्रगट हुई। ज्ञानज्योति अतिशय बल द्वारा प्रगट हुई। भगवान आत्मा चैतन्यसागर, बादशाह, अनन्त गुण का बादशाह। आहाहा! निर्मल पर्याय आदि मेरी प्रजा। ऐसा जो भगवान बादशाह, अपनी परिणति में निर्मलपने के जोर से राग के दो भाग को मूल से उखाड़ डालता है। आहाहा! यहाँ तो अभी (लोगों को) पाप से निर्वृत होने का समय नहीं मिलता। दुकान और धन्धा और वकालात... ऐई! नटुभाई! आहाहा! यह प्रभु पुण्य-पाप के परिणाम से निवृत्त स्वरूप ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : वकालात का धन्धा पाप का है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वकालात का धन्धा अकेला पाप का है। बहुत लोगों को पाप

में जोड़ दिया। बहुतों को पाप में जीताया है। उस समय वकालात में यही बड़े कहलाते थे। काठियावाड़ में रामजीभाई अर्थात्... हमारे मनुभाई कहते हैं, 'कांप' में एक मनहरभाई वकील है।

मुमुक्षु : अहमदाबाद।

पूज्य गुरुदेवश्री : अहमदाबाद... अहमदाबाद, हों! वहाँ वे रात्रि को प्रतिदिन आते हैं, दिन में व्याख्यान में आते हैं। उनके समय में तो वे एक ही थे, बस! रामजीभाई अर्थात् रामजीभाई, बस!

मुमुक्षु : वकील एक ही होता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही होता है, परन्तु पाप। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु अकेला आत्मा जिसे पुण्य, शुभाशुभभाव की जिसे गन्ध नहीं। जो प्रभु शुभाशुभभावरूप कभी हुआ ही नहीं। आहाहा! चाहे जितने शुभ-अशुभभाव किये हों, हुए हों, परन्तु वस्तु प्रभु है, वह चैतन्यरस अतीन्द्रिय अमृत का सागर प्रभु, स्वयंभूरमण समुद्र है। ऐसा स्वयंभू प्रभु आत्मा, वह शुभ और अशुभभाव से कभी हुआ नहीं। पर्याय में (मिथ्यात्व) था, उसे मूल से उखाड़ डाला। आहाहा! कहो, सुरेन्द्रभाई! ऐसी बातें हैं। लोगों को ऐसा लगता है कि यह एकान्त.. एकान्त.. एकान्त है। व्यवहार का तो लोप करते हैं। लोप भी नहीं, यहाँ तो व्यवहार को उन्मूल (मूल में से) निकाल डालते हैं। उसका मूल फिर से उत्पन्न न हो, ऐसे निकाल डालते हैं। आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! यही वस्तु की स्थिति है। आहाहा!

प्रभावना का शुभभाव आवे। भगवान की प्रभावना करे, पुस्तक-शास्त्र बनावे, उसमें से कुछ लाभ होगा या नहीं? त्याग-ग्रहण में तो ऐसा आता है। नहीं वह दस प्रकार का? त्याग-ग्रहण। त्याग में ऐसा आता है कि अपने पास पुस्तक आदि हों तो दूसरे को देना। यह तो वहाँ प्रमाद के राग का अंश उस ओर ढला है, उसे घटाते हैं, नाश करते हैं। पुस्तक दूसरे को देने से वहाँ त्यागधर्म होता है, (ऐसा नहीं है)। पुस्तक का त्याग तो पहले से अन्दर है। त्याग-ग्रहणरहित ही आत्मा है। पुस्तक के त्याग-ग्रहण से तो रहित ही है, तथापि पद्मनन्दीपंचविंशतिका (में) ऐसा कथन आता है कि यह त्याग करे। अपने पास

पुस्तक हो, उसे कोई माँगे तो तुरन्त दे। उसका हेतु यह है कि उस ओर की जरा आसक्ति थी, वह छोड़ दे। मेरा प्रभु मेरे पास है। मुझे किसी शास्त्र की भी आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यह सब शास्त्र निकले हैं, मेरी ज्ञान की शुद्ध परिणति हुई, उसमें से निकले हैं। आहाहा! केवलज्ञान की परिणति हुई, उसमें से शास्त्र निमित्त से निकले, तो उस शास्त्र में से मुझे मिले, ऐसा नहीं है। मैं शास्त्र को बनाऊँ, विकल्प होवे तो रचना (करूँ), ऐसा कहते हैं परन्तु उस विकल्प को मैं तो मूल में से उखाड़ डालता हूँ। वह मुझे लाभदायक है, ऐसा नहीं है। आहाहा! (ऐसा सुने) फिर सोनगढ़वालों को एकान्त कहे न! एकान्त है.. एकान्त है.. सब चिल्लाहट मचाते हैं। भगवान! खबर नहीं, उसे खबर नहीं।

एक ओर महाप्रभु विराजता है। एक पक्ष में पुण्य-पाप के भाव और एक पक्ष में परमात्मा है। अब तुझे किसके पक्ष में जाना है? आहाहा! एक ओर भगवान अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. इसमें कहीं कहेंगे, हों! 'परमकलया' उसमें कहेंगे। आहाहा! अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त ज्ञानज्योति प्रगट हुई। कैसी है वह ज्ञानज्योति 'कवलिततमः' अज्ञानरूपी अन्धकार का ग्रास कर लिया है.. 'कवलिततमः' आहाहा! राग से धर्म होता है, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसका तो नाश कर डाला है, ग्रास कर डाला है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप महाप्रभु, अनन्त-अनन्त अमृत के सागर से भरपूर, एक-एक गुण अमृतस्वरूप है। एक-एक गुण में सुख का रूप है। आहाहा! सुख, आनन्द आत्मा का स्वभाव है, उस आनन्द का रूप प्रत्येक गुण में है। अनन्त-अनन्त गुण में सुख का स्वरूप है। अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द के अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, आहाहा! उसकी दृष्टि के जोर से, उसके स्वीकार के जोर से, उस चीज़ की उपादेय और सत्काररूप से जहाँ दशा हुई, उसने पुण्य और पाप के भेद को मूल में से उखाड़ डाला है, ग्रास कर गयी है। आहाहा! यह वस्तु! जैनदर्शन की यह चीज़! वस्तु दर्शन की यह चीज़।

वस्तु है पूरी स्वयं और पुण्य-पाप तो भिन्न विकार जहर है। ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। आहाहा! ये पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि के भाव, एक ओर भगवान परमात्मा अमृत सागर से भरपूर, उनसे तो विरुद्ध है अर्थात् जिसे भेद का उन्माद नाचता था, भेद करके पागलपने नाचता था कि बहुत अच्छा है, पुण्य अच्छा है, व्रत अच्छे

हैं, वह अन्तर आत्मा के चैतन्य के जोर के बल से, ये (विपरीत) श्रद्धा और पुण्य-पाप मेरे, उसमें से उखाड़ डाला। आहाहा! उन्मूल कर डाला। फिर से उगे नहीं, फिर प्रगट न हो, इस प्रकार से कर डाला। आहाहा! क्षयोपशम समकिति है, परन्तु जोड़नी क्षायिकवाले हैं! आहाहा!

बहिन (बहिनश्री चम्पाबेन) को जातिस्मरण में आया है न! जोड़नी क्षायिक! वह यह जोड़नी क्षायिकभाव है। आहाहा! क्योंकि अभी भगवान तो नहीं, इसलिए क्षायिक समकित की योग्यता नहीं है। कहते हैं कि हमारी योग्यता ऐसी है... आहाहा! कि हम क्षायिक ही लेनेवाले हैं। उस क्षयोपशम में से गिरनेवाले नहीं हैं। अविचलित चेतना विलास आत्मा व्यवहार (ऐसा) दोपहर को आया था। आहाहा!

भगवान अन्दर राग के पर्दे में पड़ा, राग के प्रेम में पर्दे में पड़ा, उसे भगवान दिखायी नहीं देता। इस राग का प्रेम छोड़े तो प्रभु का प्रेम हो, तब उसे आत्मा दिखायी दे। आहाहा! यह पुण्य और पाप के दोनों भाव बन्धन के कारणभूत हैं, ऐसा उनका प्रेम जिन्हें छूट गया है... आहाहा! उनका प्रेम, यह प्रेम तो करता है, प्रेम शब्द से (आशय है कि) अन्दर एकाग्रता, इस ओर एकाग्र हो। आहाहा! पुण्य की क्रिया करके एकाग्र होकर मानता था कि मैं कुछ अच्छा करता हूँ। वह एकाग्रता तोड़कर यहाँ प्रभु में एकाग्र होता है। आहाहा!

अनन्त-अनन्त अमृत के सागर से भरपूर स्वयंभू आत्मा! (प्रवचनसार) १६वीं गाथा में स्वयंभू कहा है न! प्रवचनसार! दोपहर को (आ गया है) स्वयंभू-स्वयं। स्वयं अपने से उत्पन्न हुआ है। वीतरागीदशा क्षायिक समकित आदि या क्षायोपशमिक, क्षायिक जोड़नी, वह अपने से उत्पन्न हुआ है। उसे किसी दूसरे की सहायता या मदद है नहीं। आहाहा! केवली के समीप, श्रुतकेवली के समीप क्षायिक समकित होता है; इसलिए उनकी मदद है तो क्षायिक हुआ है-ऐसा नहीं है। आहाहा! सामने निमित्तरूप से हो, परन्तु हुआ है अपने आत्मबल से। आहाहा! पूरा चैतन्यमूर्ति भगवान, उसे हिला डाला! जागृत किया।

अज्ञानरूपी अन्धकार को (ज्ञान) प्रकाश ग्रास कर गया। वह तो चैतन्य के प्रकाश का प्रकाश, पुण्य और पाप में भेद करता हुआ ऐसा जो अज्ञान अन्धकार, इस प्रकाश द्वारा अन्धकार नष्ट हुआ। जहाँ प्रकाश होता है, वहाँ अन्धकार नहीं होता; अन्धकार होता है, वहाँ

प्रकाश नहीं होता। आहाहा! जहाँ सूरज में प्रकाश है, वहाँ अन्धकार कैसा? इसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्य ज्योति का जहाँ आदर होकर जहाँ स्वभाव की जागृति हुई... आहाहा! उसमें राग, दया, दान, व्रत ठीक है - ऐसा जो अज्ञान था, वह तो अन्धकार था, वह तो अन्धकार था। चैतन्य के प्रकाश से वह अन्धकार नाश हो गया। आहाहा! यह उसकी क्रिया है। चिमनभाई! आहाहा! ऐसा है।

उसमें आया नहीं? स्तवन में आया नहीं? 'प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा' प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा। किसी भी प्रकार से भगवान तो पूरा अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शान्ति, उसके अनन्त गुण, उन अनन्त स्वरूप है। आहाहा! 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम' राग, पुण्य और पर की आशा (कहाँ करता है)? भगवान मुझे दे, देव-गुरु मुझे दे, यह पर की आशा प्रभु (क्यों करता है)? 'पर की आस कहाँ करे प्रीतम, किस बात से तू अधूरा' 'किस बात से प्रभु तू अधूरा, प्रभु मेरे तुम सब बातें पूरा' आहाहा! ऐसा है।

(यहाँ कहते हैं) अत्यन्त सामर्थ्ययुक्त प्रगट हुई। आहाहा! 'कवलिततमः' अज्ञान को तो ग्रास कर गयी। अर्थात् मुख बड़ा और ग्रास छोटा। इसी प्रकार प्रकाश का जोर, चैतन्य की श्रद्धा का जोर, वह प्रकाश। उसमें अज्ञान अन्धकार (अर्थात्) राग ठीक है, पुण्य धर्म है, इस अन्धकार का नाश कर डाला। आहाहा! इस प्रकार से नाश किया कि फिर से उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! पंचम काल के प्राणी-सन्त, आप छद्मस्थ, केवली के विरह में क्या कहते हो प्रभु यह आप? आहाहा! यह केवली का विरह पड़ा, परन्तु हमारे नाथ का विरह हमने तोड़ डाला, कहते हैं। आहाहा! हम जो राग की रमत में थे, उसे छोड़कर आत्मा की रमत में (आ गये हैं)। 'निज पद रमे सो राम कहिये।' आत्मा में रमता, आत्मा के जोर से कहते हैं कि अज्ञान अन्धकार का मूल में से उखाड़कर नाश कर दिया है। आहाहा! असंख्य प्रदेश में पुरुषार्थ के अंकुर फूटे! आत्मस्वभाव के पुरुषार्थ के अंकुर फूटे! आहाहा! उसने अन्धकार का नाश कर डाला। आहाहा!

जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है,.. 'हेला-उन्मिलत्' आहाहा! अरे! वह तो लीलामात्र से अज्ञान का नाश किया है। आहाहा! क्रीड़ा में, आत्मा की क्रीड़ा करते-करते नाश हो गया है। आहाहा! शब्द तो देखो! आहाहा! कुछ कष्ट पड़ा

है और बहुत बाहर का जोर करना पड़ा है, किसी की मदद लेनी पड़ती है, ऐसा नहीं। 'हेला-उन्मिलत्' लीलामात्र से। आहाहा! प्रभु की लीला - आत्मा की लीलामात्र से, अनन्त गुण से जागृत हुआ, उसकी लीलामात्र से हमने उसे (अज्ञान अन्धकार को) घात कर डाला है। आहाहा!

'हेला-उन्मिलत्' लीलामात्र से.. अर्थात् अन्तर के स्वाभाविक पुरुषार्थ से। आहाहा! अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर दिया है,.. 'कवलिततमः' है न? और 'हेला-उन्मिलत्' है। 'हेला' अर्थात् लीलामात्र से। 'उन्मिलत्' आहाहा! उसका नाश किया। आहाहा! लीलामात्र से (-सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है.. वहाँ तो ऐसा कहा। 'हेला-उन्मिलत्' लीलामात्र से विकसित होता जाता है, कहते हैं। आहाहा! लीलामात्र से (-सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है.. क्या कहा?

आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जहाँ उसका स्वीकार हुआ, सत्कार किया, सच्चिदानन्द प्रभु जहाँ दृष्टि में आया... आहाहा! 'हेला-उन्मिलत्' लीलामात्र से उसकी शक्ति बढ़ती जाती है। रमणता में, आनन्द की-आनन्द रमणता में उन शक्तियों की शुद्धता का विकास बढ़ता जाता है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। सुनना मुश्किल पड़े (लोगों को) वे व्रत करो, तप करो, और अपवास करो आदि (सरल लगता था)। आहाहा! देखो! यह पुण्य-पाप के (अधिकार की) पूर्णता का अन्तिम कलश। आहाहा!

'उन्मिलत्' का क्या अर्थ किया? 'उन्मिलत्' बढ़ा दिया, ऐसा कहते हैं। उसमें 'उन्मिलत्' अर्थात् मूल में से अन्धकार को तोड़ डाला। यहाँ 'हेला' लीलामात्र से आत्मा की शान्ति और शान्ति की रमणता में, आनन्द में रमते-रमते आनन्द को बढ़ा डाला। आहाहा! शुद्धता के स्वभाव में रमकर शुद्धता बढ़ा डाली। आहाहा! इन पुण्य-पाप के भाव से यहाँ कुछ भी लाभ हुआ, (ऐसा नहीं है)। एक व्यक्ति और ऐसा कहता था, वह छोटालाल कहता था कि व्यवहार में आवे तो थोड़ा विश्राम मिले। अरे रे! भगवान! फिर बदल गया था, फिर अन्त में बदल गया था। अन्त में बदल गया था। पहले ठीक था, बीच में अठीक था, फिर बदल गया। यह बात...! आहाहा! अरे रे!

एक क्षण का पुण्य-पाप का दोष, वह पर्याय में है। उसे जो 'मेरा' मानकर...

आहाहा! भटकता था, आहाहा! उसने अपने भगवान आत्मा के स्वभाव के निधान खोल डाले। आहाहा! शक्तिरूप से स्वभाव जो परमात्मस्वरूप है, उसे व्यक्तरूप से पर्याय में प्रगट करके अतीन्द्रिय आनन्द में रमते-रमते प्रगट किया। आहाहा! 'उन्मिलत्' बढ़ा दिया है। लीलामात्र से शुद्ध परिणति बढ़ा दी है। आहाहा! ऐसा श्लोक है। आहाहा! 'हेला-उन्मिलत्' आहाहा! लीलामात्र से-स्वाभाविक पुरुषार्थ से। आत्मा की शान्ति में रमते-रमते विकसित होती जाती है... अपनी शक्ति। आहाहा! ओहोहो!

मुमुक्षु : देह दुःखमय, महा दुःखमय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें, श्वेताम्बर में है। यह तो यहाँ अपने आता है कि भाई! दुःख के समय यदि पूर्व में चेतगा नहीं तो वापस सुख के समय तुझे भ्रष्ट होना पड़ेगा। इसलिए पुरुषार्थ से स्वभाव पर जा। अनुकूलता के समय तुझे धर्म है, धर्म है—ऐसा तुझे होगा परन्तु यदि सहन करने की शक्ति, ज्ञातादृष्टा के स्वभाव को विकसित नहीं किया होगा.. आहाहा! तो नाश हो जाएगा। आहाहा! विकार के प्रतिकूलता के दुःख के समय तेरा स्वरूप नहीं रह सकेगा। अनुकूल साता की वेदना में, अनुकूलता में हमने धर्म किया है, ऐसा है - ऐसा माना होगा परन्तु जब प्रतिकूलता आवे, उस समय भ्रष्ट हो जाएगा। आहाहा! आहार आवे नहीं, मुँह में पानी डाले तो उल्टी हो जाए, पेट संग्रह नहीं, शरीर में दूसरा रोग न हो, उसे क्या करना? कहाँ जाना? कोई दवा लागू पड़ती नहीं। आहाहा! ऐसे प्रतिकूल (प्रसंग) के समय, अनुकूलता के समय में ही शान्ति के सागर को जागृत कर देना। आहाहा! प्रतिकूल (प्रसंग) फिर भले आवे, परन्तु अनुकूलता के समय में, अनुकूल अर्थात् वस्तु तो है वह है, ज्ञेय अनुकूल-प्रतिकूल तो आवे। शरीर ठीक हो। जरा जरे पिल्लई। आता है न! यह तो उसके बल की पुरुषार्थ की उग्रता करने के लिए। इन्द्रियाँ हानि न पावे, शरीर में जीर्णता न आवे और शरीर में रोग न फटे, उससे पहले (आत्महित) कर लेना। यह तो पुरुषार्थ की कमजोरीवाले को पुरुषार्थ की उग्रता कराते हैं। आहाहा! बाकी सातवें नरक का नारकी... बापू! उसका दुःख सुना जाए नहीं। वह मिथ्यात्व का नाश करके सम्यक्त्व प्राप्त करता है। आहाहा!

उस सातवें नरक में असंख्य नारकी... आहाहा! मिथ्यात्व का अन्धकार लेकर गये

थे, परन्तु वहाँ पूर्व में सुना हुआ, प्रभु! तू चैतन्य शुद्ध आनन्द है न! आहाहा! उसका जहाँ स्मरण आया, (वहाँ मिथ्यात्व के अन्धकार का नाश हो गया)। आहाहा! सातवें नरक की पीड़ा, बापू! ओहो! संयोग की अपेक्षा से बात है। वैसे तो निगोद का दुःख.. बहुत हीन हो गया है न! निगोद में तो हीन दशा हुई है, तो नरक की अपेक्षा दुःख अधिक है, क्योंकि दशा ही हीन हो गयी है और यहाँ भी हीन दशा और विपरीत दशा भाव, वह दुःख का कारण है। आहाहा! और ऐसे संयोग! सातवाँ नरक! शीत की एक लहर का टुकड़ा यहाँ आवे तो दस-दस हजार बीघा में लोग मर जाए। अरे! ऐसी सर्दी में, नाथ! तूने तैंतीस सागर निकाले, प्रभु! एक बार नहीं, ऐसे अनन्त बार! आहाहा! भाई! तुझे किसका मान चाहिए है? आहाहा! तुझे किससे गिनवाना है? प्रभु! आहाहा! जो गिनती में गिनानेयोग्य है, उसे देख न! आहाहा! पुण्य-पाप, वे गिनती में गिनानेयोग्य नहीं हैं, उनके फल भी गिनानेयोग्य नहीं हैं। आहाहा! वह सातवाँ नरक, बापू! आहाहा! तैंतीस सागर तक पानी बूँद नहीं। यहाँ सवेरे के छह घण्टे हों और प्यास लगी हो और पानी न मिले तो पानी लाओ, पानी लाओ, पानी लाओ (हो जाता है)। उसमें ऐसी गर्मी हो। एक बार गर्मी बहुत पड़ गयी... लू.. लू..! आहाहा! इस लू से तो अनन्त गुनी उष्णता पहले नरक में है। पहले नरक में शीत नहीं, उष्ण है, नीचे शीत है। आहाहा!

ऐसी पीड़ा में भी गुलांट खा जाता है, पहलू बदल डालता है। आहाहा! मेरा प्रभु चैतन्य आनन्द का नाथ! आहाहा! उस ओर पहलू, दृष्टि थी, वह पहलू बदल डालता है। ऐसे बदल डालता है। आहाहा! और शक्ति को बढ़ाता ही जाता है। आहाहा! निर्मल शक्ति की व्यक्तता को बढ़ाता जाता है। आहाहा! और अज्ञान के अन्धकार को मूल में से छेद डाला है। आहाहा!

आहाहा! श्रीमद् कहते हैं न! दिगम्बर के वचनों की तीव्रता के कारण कुछ रहस्य समझा जा सकता है। उनकी भाषा तो देखो! ओहो! आहाहा! प्रभु! ऐसा है। आहाहा! प्रभु! तू अमृत का सागर है, प्रभु! तुझे जँचता नहीं और जहाँ-तहाँ सुख है, सुख है-ऐसी बुद्धि, वह अज्ञान है, महामिथ्यात्व है। आहाहा!

अरे! जरा ठण्डी हवा आवे, वहाँ तुझे ठीक लगे, प्रभु! आहाहा! और जहाँ गर्मी

आवे वहाँ (बोलने लगे) पंखा करो, पंखा करो! क्या है प्रभु? आहाहा! ऐसी जरा गर्मी और जरा सर्दी में तुझे चिल्लाहट होने लग जाती है, बापू! वहाँ नरक में अनन्त सर्दी और अनन्त गर्मी, प्रभु! तूने अनन्त सागरोपम भोगी है। एक भव में तैंतीस सागर, ऐसे अनन्त तैंतीस सागर किये हैं, प्रभु! आहाहा! परन्तु भगवान तेरा नाथ समीप में, पर्याय के समीप में ही पड़ा था। उसे तूने दूर करके रखा और पुण्य-परिणाम दूर है, उन्हें 'मेरा' करके रखा। मेरा करके रखा। माननेवाला! आहाहा!

भगवान ध्रुव चैतन्य ज्ञायकभाव भरा है न, प्रभु! उसके जोर से जिसने तम और अज्ञान का नाश किया, परन्तु यहाँ अपनी शक्ति को अब बढ़ाता ही जाता है। आहाहा! समय-समय में शुद्धि की वृद्धि होती है। आहाहा! भाषा जरा सादी है परन्तु भाव जरा बहुत गहरे हैं, बापू! आहाहा! दुनिया माने, न माने; इसकी संख्या थोड़ी हो या न हो, इसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! सत् तो ऐसा है। आहाहा!

अब (कहते हैं) वह शुद्धकला विकसित होती जाती है और.. 'परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि' आहाहा! उसने तो परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है.. आहाहा! क्या कहते हैं? (जो) पुण्य और पाप में भेद मानता था, वह मिथ्यात्व था, उसका तो ग्रास कर गया, नाश किया। इस ओर चैतन्य का प्रकाश प्रगट हुआ। उस चैतन्य के प्रकाश की प्रगट दशा केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करती है, क्रीड़ा! आहाहा! आओ केवलज्ञान, आओ थोड़े काल में! आता है न धवल में? आहाहा! मति-श्रुतज्ञान निर्मल होकर जहाँ आया, हुआ (तो वह) केवलज्ञान को बुलाता है। इस केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करता है। आत्मा के स्वभाव के अनुभव का मति-श्रुतज्ञान है। आहाहा! वह विकसित होती जाती जो शक्ति (है और) 'परमकलया सार्धम्' परम कला जो केवलज्ञान। परम कला अर्थात् केवलज्ञान। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान में अभी अल्प कला है। आहाहा! 'परमकलया सार्धम्' परम केवलज्ञान की क्रीड़ा शुरु कर दी है। केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है.. आहाहा! आहाहा!

यहाँ तो यह सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ, वह पर्याय बढ़ती जाती है। बढ़ते-बढ़ते कहते हैं कि वह केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करती है। केवलज्ञान अल्प काल में प्रगट

होगा, इस प्रकार से उसका पुरुषार्थ है। आहाहा! अज्ञान का नाश हुआ, वह तो (अब) नहीं होगा परन्तु इतनी अल्पदशा में हम नहीं रह सकेंगे, नहीं रहेंगे। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ हाथ आया। आहाहा! गजब बातें हैं!

पूर्ण चैतन्यस्वरूप भगवान् आत्मा, अतीन्द्रिय अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय गुण का समुद्र! वह पुण्य और पाप के भेद करता था, उस अज्ञान का नाश करके... आहाहा! अपनी शक्ति की व्यक्तता प्रगट की, वह व्यक्तता केवलज्ञान की व्यक्तता के साथ क्रीड़ा करती है। आहाहा! आहाहा! ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल पड़े, ऐसा है। कठिन पड़े कि यह एकान्त है। लाख तैरे दया, दान और व्रत, भक्ति, पूजा कर, यात्रा कर। मर जा तो उसमें धर्म नहीं है, ले! हमने सम्मेदशिखर की दस, बीस और पच्चीस यात्रा की! लाख कर न! अनन्त काल में अनन्त बार वहाँ रहा है, जा आया है। सम्मेदशिखर! वह तो सब राग की क्रिया है, वहाँ कहाँ उसमें धर्म था? आहाहा!

जिसने ऐसी चैतन्यस्वरूप की जागती ज्योति को जगाया और ये दया, दान के, व्रत के परिणाम ठीक हैं और मुझे मदद करते (हैं), ऐसे अज्ञान को तोड़ डाला, कहते हैं। तोड़ डाला अर्थात् वह अब रहा नहीं। विकसित ज्ञान, केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करता है। आहाहा! सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ... आहाहा! वह केवलज्ञान और केवल पूर्ण आनन्द... आहाहा! के साथ क्रीड़ा (करता है)। 'आरब्ध' है न? आरब्ध (अर्थात्) शुरु की है... 'सार्धम् आरब्धकेलि' यह क्रीड़ा प्रारम्भ की है.. उसके साथ अब शुरु कर डाली। आहाहा! अरे! ऐसी बात कहाँ है?

मुमुक्षु : क्रीड़ा करता है अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाग्रता बढ़ती जाती है। शुद्धता की एकाग्रता बढ़कर केवलज्ञान लेनेवाला है, ऐसा कहते हैं। यह मुनिराज ऐसा कहते हैं। हम पाँचवें काल के साधु, इसलिए हमें केवलज्ञान नहीं होगा, देर लगेगी - ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! भले इस भव में नहीं होगा परन्तु हमने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरु की है। बीच में एकाध भव (होगा क्योंकि) पंचम काल में जन्म गये हैं। आहाहा! बीच में एकाध स्वर्ग का भव धर्मशाला के रूप में आएगा। धर्मशाला में उतारा किया परन्तु वहाँ तो आगे चले नहीं। वहाँ

से निकलकर हम पूरा कर देंगे। केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरू कर दी है। आहाहा! हमें केवलज्ञान प्राप्त होगा ही, ऐसा कहते हैं। यहाँ मूल में (मिथ्यात्व) नष्ट किया है, यहाँ मूल पूरा करना है। आहाहा!

मुमुक्षु : जोड़नी क्षायिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्षायिक-वायिक, वह जोड़नी... वहाँ पहुँच जानेवाले हैं। आहाहा! प्रभु! ऐसी तेरी महिमा है, नाथ! प्रभु! तू ऐसा मान कि यह स्त्री का शरीर और बालक, युवा और वृद्ध और बनिया, यह तू नहीं। अरे! दया, दान के परिणाम (होते हैं) वह तू नहीं। आहाहा! तू तो परमात्मा जिनस्वरूपी प्रभु है न! आहाहा! आहाहा! उसकी दृष्टि होने पर जो ज्ञान का विकास हुआ, उस विकास की श्रेणी बढ़ते जाने पर केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा करके केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा! कहो, इस एक कलश में कितना भरा है! पार नहीं, बापू! इसमें इतना भरा है, पार नहीं! उनके उस समय के हृदय में... आहाहा! ऐसा भाव मुनि की दशा में था। पंचम काल के मुनि हजार वर्ष पहले (हुए) और यहाँ (आजकल) कहते हैं कि पंचम काल में (शुभभाव ही होता है)। अरे! प्रभु! सुन न प्रभु! ऐसा क्या करता है? बापू! आहाहा! अरे! प्रभु! तू आचार्य-साधु नाम धराकर ऐसा क्या कहता है? भाई! तुझे शोभा नहीं देता, बापू! आहाहा! आहाहा!

केवलज्ञान के साथ 'आरब्ध' लीला शुरू कर दी है, क्रीड़ा प्रारम्भ की.. आहाहा! केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा की है। आहाहा! छोटे लड़के छोटे के साथ खेलते हों और बड़े घर में जाए (तो) ऐसा कहते हैं कि हम तो अब बड़े के साथ खेलेंगे। राग से तो नहीं, परन्तु इस साधक अवस्था-इतने में नहीं रहेंगे। आहाहा!

'आरब्धकेलि' शुरू कर दी है। आहाहा! परमात्मा केवलज्ञान लेने की हमने शुरुआत कर दी है। आहाहा! तुम पंचम काल के सन्त, क्या कहते हो? बापू! काल-फाल आत्मा में कहाँ है? काल से अन्दर में उतर गये हैं। सीढ़ियों का आरा (किनारा) होता है न?

आहाहा! अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका के समय की दशा कितनी जोरदार है!! आहाहा! नग्न मुनि हैं। व्रतादि के विकल्प हैं परन्तु उन्हें तो मूल में से नाश करने के लिए खड़े हुए हैं। उन्हें रखने के लिए खड़े नहीं हुए हैं; उन्हें पालने, रखने के लिए खड़े

नहीं हुए। व्यवहारनय में ऐसा आता है कि उन्हें पाले। अर्थात् होते हैं, यह बतलाया है, ऐसा। आहाहा!

ऐसी वह ज्ञानज्योति है। 'परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि'.. 'हेला-उन्मिलत्' ऐसी ज्ञानज्योति है। आहाहा! (जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है,..) अर्थात् केवलज्ञान नहीं है परन्तु शुद्धनय के जोर से भगवान आत्मा पूर्ण केवलज्ञानघन है, उसका जहाँ जोर आया है अर्थात् पर्याय में केवलज्ञान के साथ, वर्तमान प्रगट नहीं तो भी उसके साथ क्रीड़ा करती है। आहाहा! यह पुण्य-पाप अधिकार की पूर्णता में यह बात! आत्मा की पूर्णता की प्राप्ति। आहाहा! ऐसा एक श्लोक तो देखो! (श्वेताम्बर के) बत्तीस और पैंतालीस (आगम) पढ़े तो मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह (दिगम्बर) सन्त तो केवलज्ञानी के पथानुगामी हैं, प्रभु! आहाहा! दिगम्बर सन्त तो केवलज्ञानी के पुत्र हैं! आहाहा! केवलज्ञान उनका पिता है। वे केवलज्ञान लेनेवाले हैं। एक-दो भव में केवली होनेवाले हैं। ये अमृतचन्द्राचार्यदेव, कुन्दकुन्दाचार्यदेव, पद्मप्रभमलधारिदेव! आहाहा! (यहाँ की) स्थिति पूरी हो गयी। चलते-चलते पच्चीस कोस जाना था, १४-१५-१६ कोस चले, अन्धकार हो गया तो धर्मशाला में रुकना पड़ा, सवेरा होने पर वहाँ से चल पड़ेंगे। इसी प्रकार उस स्वर्ग में धर्मशाला के रूप में रुक गये हैं, परन्तु हम तो निकले हैं इकट्ठे वहाँ से केवलज्ञान लेनेवाले हैं। आहाहा! क्योंकि कोई वह चीज़ बाहर से नहीं आती। हमारे पास ही है। आहाहा! और उसका स्वीकार करके विकास तो हुआ है, स्वीकार करके विकास तो हुआ है। वह विकास पूर्ण विकास के साथ क्रीड़ा करता है।

मुनिराज ऐसा कहते हैं कि हम पंचम काल में स्वर्ग में जाएँगे परन्तु हमने केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा शुरु की है। ऐसा होकर वहाँ जाएँगे। आहाहा! स्वर्ग में भी हमारा साधकपना... आहाहा! छूटनेवाला नहीं है।

(सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है..) छद्मस्थ अर्थात् अभी आवरण में है। (तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है,...) प्रत्यक्ष केवलज्ञान अभी नहीं है। प्रतीति में आया है कि केवलज्ञान ऐसा होता है और

केवलज्ञान होता है और साधक, इस साधन से होता है, वह सब ख्याल में, दृष्टि में आया है। अब उस श्रेणी को बढ़ाते जाते हैं। निर्मल धारा को शुद्धता के आश्रय से पुण्य-पाप के भाव का नाश करके, पवित्रता का पिण्ड प्रभु, पवित्रता का पिण्ड परमात्मा, उसकी पवित्रता की प्रतीति और ज्ञान का अनुभव में विकास हुआ, परन्तु उस पवित्रता का प्रभु पूर्ण है, वह पवित्रता पर्याय में आवे, ऐसी हमने अब क्रीड़ा की है। आहाहा!

(केवलज्ञान होने पर साक्षात् होती है।) लो, ठीक! शुद्धनय क्रीड़ा करता है, केवलज्ञान होने पर साक्षात् प्रगट होता है। मोक्ष हो गया। जो स्वभाव और शक्ति से मोक्षस्वरूप था, वह पर्याय में मुक्तरूप दशा हुई। विशेष कहा जाएगा...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)